खंड संख्या : 1 अंक संख्या : 3 जनवरी–मार्च, 2026 ISSN : 3107-9474

शोधहंस

बहु विषयक (मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान) अनुसंधान पत्रिका

Peer Reviewed Refereed Research Journal

अनुसंधान की नई दिशाओं की ओर

संपादक
डॉ. मनोहर कुमार श्रीवास्तव
सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
मुंशी सिंह महाविद्यालय, मोतिहारी

खंड संख्या : 1, अंक संख्या : 3, जनवरी–मार्च, 2026 ISSN : 3107-9474

प्रेमावतार में चित्रित प्रेम प्रभाव

डॉ. मनोहर कुमार श्रीवास्तव
सहायक प्राध्यापक, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग,
मुंशी सिंह महाविद्यालय, मोतिहारी

शोध–सार :– इस शोधालेख में चैतन्य महाप्रभु के जीवन में विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम को आधार बनाया गया है। चूँकि प्रोफेसर तारकेश्वर उपाध्याय कथावाचक भी रहे हैं। इसलिए उन्होंने अपने इस उपन्यास में महाप्रभु चैतन्य महाराज की जीवन–लीला का विशद वर्णन तो किया ही, उस वर्णन के बहाने दर्शन पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। शंकराचार्य का अद्वैतवाद और अहंब्रह्मास्मि और जगत्मिथ्या के सिद्धांत को भी अपने ज्ञान द्वारा विवेचित करते हुए खण्डन करने का सार्थक प्रयास किया है तथा महाप्रभु चैतन्य के व्यक्तित्व में उत्पन्न श्रीकृष्ण का प्रेम और उसका व्यापक प्रभाव का विस्तार से वर्णन किया है। उस प्रेम के वशीभूत सारा जगत् है। फिर वेदांती सरस्वती प्रकाशानंद महाराज जी हों या कोई और। सब कुछ प्रेममय ही है। चराचर जगत् प्रेम प्रभाव में ही बधा है। और इस प्रेम में साक्षात् विष्णु का वास है। दर्शन तो कोरा ज्ञान है। कोरा बकवास है। तुसलीदास ने भी कहा – सिया राममय सब जग जानी, करहुँ प्रनाम, जोरि जुग पानी।

बीज शब्द :– चैतन्य महाप्रभु, प्रेम का प्रभाव, दर्शन, वेदांत, शंकराचार्य का अद्वैतवाद ।

कहते हैं कि भगवान का अस्तित्व कहाँ है – मंदिर में या मस्जिद में या गुरुद्वारे में या चर्च में या भक्त के हृदय में। निःसंदेह कहा जा सकता है कि भगवान जगत में सर्वत्र तो व्याप्त है, लेकिन उसका निवास स्थान भगवत–भक्त–हृदय ही है। इस सत्य को कबीर ने भी स्वीकारा है :–

"ना मैं देवल ना मैं मसजिद, ना काबे कैलास में।
मोकों कहाँ ढूँढ़े बंदे, मैं तो तेरे पास में।[1]

डॉ. तारकेश्वर उपाध्याय कृत 'प्रेमावतार' हिन्दी का एक श्रेष्ठ उपन्यास कृति है। इस उपन्यास में उपन्यासकार ने भगवान के साक्षात् अवतार 'श्री चैतन्य महाप्रभु' की जीवन–लीला का जैसा सरल, सुगम, विशद् और सुव्यवस्थित वर्णन किया है, उसे कोई भी पाठक अध्ययनोपरांत ईश्वरीय प्रेमतत्व की पहचान स्वयं कर सकता है। बड़ा ही अद्भूत वर्णन–शैली डॉ. तारकेश्वर उपाध्याय जी की रही है।

प्रेम क्या है ? प्रेम प्रभाव क्या है ? इसकी पहचान कैसे की जा सकती है ? सामान्यजन या विशिष्टजन इस प्रेम तत्व को कैसे प्राप्त कर सकते हैं। वेदांत और ब्रह्मसूत्र संन्यासियों के लिए बना है। ब्रह्मसूत्र में निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन है। आदि जगत्गुरु शंकराचार्य ने इस जगत् को उस ब्रह्म की माया का एक भ्रमजाल भर माना है। वे कहते हैं – 'जगत्मिथ्या अहंब्रह्मास्मि'। यह सूत्र वाक्य हृदय प्रधान और बुद्धि प्रधान व्यक्तियों में आज भी द्वन्द्व और तर्क का विषय बना है। ऐसे में ईश्वर प्रेम सगुण और निर्गुण दोनों में उलझते–सुलझते, उब–डूब रहा है। भक्त और भगवान तर्क और भाव

में हिचकोले खाते स्थूल और सूक्ष्म में गोते खा रहे हैं। 'प्रेमावतार' नामक चैतन्य महाप्रभु की लीला में डॉ. तारकेश्वर उपाध्याय ने चैतन्य महाप्रभु के मुख से एक सुन्दर–सा वक्तव्य दिलवाया है :–

''पुरूष दो प्रकार के होते हैं – एक हृदय प्रधान एवं दूसरे बुद्धि प्रधान। बुद्धि प्रधान लोग तर्कों में उलझे रहते हैं। वैसे लोगों के साथ तर्क करते–करते इतने सूक्ष्म विषय में प्रवेश करना चाहिए, जहाँ से आगे बढ़ने में बुद्धि शक्तिहीन हो जाए। भगवान शंकराचार्य ने तर्क एवं युक्तियों द्वारा भगवत तत्व को इसी खूबी से वर्णित किया है। ... वेदान्त श्रवण एवं पठन का इतना ही प्रयोजन है कि तार्किक बुद्धिवाले अपनी बुद्धि को सूक्ष्म एवं परिष्कृत बनाकर परमार्थगामिनी बना लें। सदा तर्कों में उलझे रहना साधक का उद्देश्य नहीं है, क्योंकि परमार्थ का मार्ग तो तर्कातीत है।''[2]

प्रेम में निस्वार्थता, समर्पण और एकत्व का भाव होता है। यह शारीरिक आकर्षण से दूर आत्मा का मिलन भाव होता है। इसमें भौतिक स्वार्थ सन्निहित नहीं होता। प्रेम सर्वव्यापी एवं सार्वकालिक शाश्वत ऊर्जा स्रोत है, जिसके कारण संपूर्ण सृष्टि का पोषण होते रहता है और संसार पल्लवित, पुष्पित तथा विकसित होता है। निःस्वार्थता, एकत्व, शाश्वतता, ,दिव्यता, समर्पण, धैर्य, सर्वोच्च बौद्धिकता जैसे तत्व इसमें सम्मिलित होते हैं। स्वार्थरहित भाव त्यागवृत्ति को जन्म देता है। इस मनोभाव के कारण अपनत्व का प्रसार होता है। हम कहते हैं कि प्रेमी युगल दो शरीर एक आत्मा हैं। यही तो एकत्वभाव है। मानसिक और भावनात्मक स्तर पर जब शरीर गौण और आत्मा प्रधान हो जाय तो शरीर दो हो या चार या अनंत क्या फर्क पड़ता है। यही एकत्व ही है, जो अपना–पराया का भेद मिटा देता है। प्रेम का न आदि है न अंत है। यह सनातन है। और जो सनातन है, वही तो शाश्वत है। वही तो दिव्य है। वही तो ब्रह्मानंद सहोदर है। फिर तेरा कैसा और फिर मेरा कैसा। यह समर्पण भाव अहं को मिटाकर आत्मा में धैर्य भाव को पनपाता है। फिर धैर्य धीरे–धीरे स्थायित्व को प्राप्त हो जाता है। धैर्य सर्वोच्च बुद्धिमता का वाहक बन जाता है। फिर नवीन रचनात्मकता का दौर चल पड़ता है। जगत् के जलचर, थलचर, नभचर – समस्त प्राणियों के प्रति उत्पन्न प्रेम ही भक्ति का रूप धारण कर लेता है। सद्भावना का साहित्य भी प्रेम की अपेक्षा रखता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी लिखा है – ''भक्तों का यह भी दावा है कि वेदांत में जिसे 'ब्रह्म–जिज्ञासा' या 'ब्रह्म की जानकारी की इच्छा' कहा गया है वह वस्तुतः भक्ति ही है, क्योंकि 'कठोपनिषद्' में (2.22) साफ–साफ कहा गया है कि 'परमात्मा में जिसकी भक्ति–श्रद्धा है उसी से परमात्मा प्रसन्न होते हैं' और वे जिससे प्रसन्न होते हैं, वही जिज्ञासा आदि के द्वारा उन्हें प्राप्त करता है। और फिर यह अत्यंत छोटी–सी बात है कि जब तक श्रद्धा और प्रेम अधिक नहीं हो जाते, तब तक जानने की इच्छा (जिज्ञासा) भी नहीं जागती।''[3]

आदिगुरु शंकराचार्य के जिस सिद्धांत मत में यह कहा गया कि 'जगत्मिथ्या' और 'अहंब्रह्मास्मि' और यह आज भी प्रचलित धारणा बनी है कि संसार मिथ्या ही है तो सामान्य और अल्पज्ञ जीव अपने गृहस्थ जीवन का क्या करे। क्या अपनी बनी बनाई झोपड़ी उजाड़ दे। अपनी गृहस्वामिनी को घर से बाहर निकाल दे। अपनी संतान से मुँह मोड़ ले। क्या उस पत्थर की मूर्ति जिसे वह भगवान मानता

है, उसकी पूजा–उपासना छोड़े दे। यदि नहीं, तो यह दृश्य जगत् मिथ्या कैसे हो सकता है। मेरा–आपका संवाद असत्य कैसे हो सकता है। फिर वही आदिगुरु शंकराचार्य जी कृष्ण की शरणागति में क्यों जाना चाहते हैं। चैतन्य महाप्रभु की जीवन–लीला में डॉ. तारकेश्वर उपाध्याय जी ने चैतन्य महाप्रभु के श्रीमुख से वक्तव्य दिलवाया है – ''उन्होंने (शंकराचार्य) स्वयं ऐसा किया है। हृदय की गति को कोई रोक सकता है ? 'जगत्मिथ्या', 'अहंब्रह्मास्मि' यह तो उनके मस्तिष्क का विषय है, पर उनका हृदय कहता है –

स्त्यापि भेदापगने नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः ।।

यानी, चाहे जीव और ब्रह्म में भेद न भी हो, पर हे नाथ ! मैं केवल तुम्हारा हूँ, पर तुम केवल मेरे नहीं हो। सागर की तरंगें सब कहते हैं, पर तरंगों का सागर कोई नहीं कहता।''[4] जीवन भर अद्वैत को सिद्ध करने वाले शंकराचार्य जी जब ऐसा कथन कहते हैं, फिर साधारण बुद्धिवाले की क्या दशा होगी। सहज ही सोचा जा सकता है। उपर्युक्त विवेचन ही नहीं विष्णु के मत्स्यादि अवतार और उसके कल्याणार्थ भाव को भी आदि आचार्य शंकराचार्य जी ने आगे भी व्यक्त किया है। जब वे लिखते हैं

''मत्स्यादिभिरवतारैरवतारवता सदा बसुधाम् ।
परमेश्वर परिपाल्यौ भवता भवतापभीतोऽहम।।

आप मत्स्यादि अवतार धारण करके पृथ्वी का सदा कल्याण करते रहे हैं। हे प्रभु ! मुझ जैसे संसार ताप से संतप्त की रक्षा कीजिए। मैं आपकी शरण में आया हूँ।''[5] शंकराचार्य जैसे महापुरुष जब विष्णु के अवतार में विश्वास करके उक्त कथन अपने कल्याणार्थ करते हैं, तो फिर सगुण (विष्णु) के अस्तित्व ने होने का प्रश्न कैसा ? जगत् मिथ्या–सत्य का प्रश्न क्यों ? द्वन्द्व तो बुद्धि का है। ईश्वर का नहीं। प्रकृति प्रदत्त प्रेम या श्रद्धा स्वभावज गुण है मनुष्य का। अज्ञानता प्रकृति प्रदत्त नैसर्गिक गुण ही है। कृत्रिमता तो चिंतन की देन है। प्रेम या श्रद्धा में तर्क कैसा ? चैतन्य महाप्रभु ने अपने जीवन–लीला में 'प्रेमावतार' में कहते हैं – ''अज्ञान एवं श्रद्धा में बहुत अन्तर है। अज्ञानी तर्क नहीं कर सकता, पर वह श्रद्धावान हो सकता है। और जिसके हृदय में श्रद्धा है वह अज्ञानी हो ही नहीं सकता। क्योंकि सच्ची श्रद्धा विचारों के अंत होने पर ही उत्पन्न होती है। जो हृदय प्रधान हैं, वे सरल एवं भावुक होते हैं। उनके मन में शंका उठती ही नहीं। वे तो सदा अपने भगवान का गुण–गान ही करना और सुनना पसन्द करते हैं।''[6]

इस उपन्यास में काशी के प्रसिद्ध विद्वान संन्यासी स्वामी प्रकाशानंद सरस्वती और श्रीकृष्ण चैतन्य भारती के बीच हुए संवाद को प्रस्तुत करके वेदान्त और नाम–जप कीर्तन की महत्ता को दिखाने का एक यहाँ सफल प्रयास देख सकते हैं। प्रो. तारकेश्वर उपाध्याय ने लिखा है – ''स्वामी प्रकाशानंद प्रभु की दैन्य स्वीकृति से समझ गये कि यह काफी निरीह संन्यासी है। लोग इसके बारे में बढ़ा–चढ़ाकर बात बनाते हैं। यह तो सिर उठाकर हमारे सामने भर मुँह बात भी नहीं कर सकता। वार्ता के दौरान इसे इतना दबा दें, कि इसके गुणगायकों का भ्रम टूट जाए।''[7]

स्वामी प्रकाशानंद ने बातचीत में उलझाकर श्रीकृष्ण चैतन्य को दबाने के ख्याल से सवाल किया – ''अच्छा यह बताओ, संन्यासी का मुख्य धर्म है – भिक्षा पर जीवन निर्वाह करते हुए वेदांत

चिन्तन करना और सत्य से प्रतीत होने वाले इस झूठे निस्सार संसार को युक्ति पूर्वक अनित्य बतलाना। पर तुम वेदांत चिंतन छोड़ सुग्गे की तरह यह नाम–जप क्यों कर रहे हो ?'' प्रभु बोले – ''भगवन ! मेरे पूज्य गुरुदेव ने मुझे वेदांत का अधिकारी नहीं समझा। उन्होंने मुझे नाम–जाप की आज्ञा दी है। उन्होंने कहा था – कलियुग में सबसे सुगम साधन है –

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नाम केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा।।

चैतन्य महाप्रभु की बात का समर्थन करते हुए स्वामी प्रकाशानंद ने कहा – हाँ, कलिसंतरणोपनिषद् में भगवान्नाम जप को बहुत महिमामंडित किया गया है। पर संन्यासियों के लिए तो वेदांत एवं ब्रह्मसूत्र बने हैं।'' ''प्रभु बोले – भगवन ! ऐसा कौन आस्तिक पुरुष होगा, जो व्यासदेव रचित ब्रह्मसूत्र को नहीं मानता हो ?'' स्वामी प्रकाशानंद ने जैसे ही कहा कि ''तुम उस ब्रह्म की उपासना नहीं करके अवतारियों का नाम जप रहे हो ?'' चैतन्य महाप्रभु ने कहा – ''श्रीमन् मैं इस बात को नहीं मानता कि ब्रह्मसूत्र और वेदान्तों में भगवान व्यासदेव जी ने केवल निराकार ब्रह्म के स्वरूप का ही प्रतिपादन किया है। मुझे तो लगता है कि उक्त शास्त्रों में साकार ब्रह्म की चर्चा की ही प्रधानता है।''[8]

इस प्रकार के और भी कई प्रश्न प्रकाशानंद जी के द्वारा चैतन्य महाप्रभु से पूछा जाता है। एक प्रश्न और देखिए – ''अच्छा ! तो यह बताओ कि भगवान शंकराचार्य ने किस बुद्धि से जगत् को मिथ्या घोषित कर निराकार ब्रह्म को परम साध्य माना है ?'' चैतन्य महाप्रभु ने कहा – ''भगवन् ! शंका और तर्क तो पूर्वजन्म कृत पापों के फल हैं। वे महाभाग धन्य हैं, जिन्हें प्रभु के अस्तित्व में किसी प्रकार की शंका नहीं। वे भगवान को सर्वशक्तिमान, सर्वान्तर्यामी, घट–घट व्यापि मान अहर्निश उनके चिंतन में लगे रहते हैं। ××× जिनके मन में तरह–तरह की शंकाएँ हैं, ××× वैसे ही जीवों के लिए शास्त्र बने हैं, जिससे वे अपनी तार्किक बुद्धि को श्रद्धामय बना सके।''[9] प्रकाशानंद और चैतन्य महाप्रभु के बीच शास्त्रार्थ बहुत देर तक चलता रहा। स्वामी प्रकाशानंद चैतन्य महाप्रभु को अंत अंत तक पराजित करना चाह रहे थे। जब प्रकाशानंद ने कहा कि यथार्थ में जगत् तो असत्य है ही और जीव ही ब्रह्म है। मुक्ति ही जीव का परम लक्ष्य है और ज्ञान होते ही जीव ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। तो चैतन्य महाप्रभु ने उनको समझाते हुए कहा –''प्रेम ही ब्रह्म का सच्चा स्वरूप है। प्रेमोप्लब्धि ही मानव जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। वह कहने–सुनने की वस्तु नहीं, अनुभव करने योग्य है। उसे सिद्ध नहीं करना है, वह स्वतः सिद्ध है। वह साधनों के द्वारा नहीं, प्रभु की कृपा से प्राप्त होता है।''[10]

व्यक्ति अपने–अपने मनोवांछित फल को प्राप्त करने के लिए ईश्वर की आराधना अनेक प्रकार से करता रहता है। लेकिन यह आराधना निष्काम नहीं है। जहाँ इच्छित फल प्राप्ति हेतु इष्टदेव पूजन हो, वहाँ सात्विक भक्ति नहीं है। चैतन्य प्रभु की भक्ति निष्काम भक्ति है। वे प्रकाशानंद को समझाते हुए कहते हैं कि मैं केवल नन्द नन्दन भगवान श्रीकृष्णचन्द्र के पदारविन्द में परम–प्रेम की कामना करता हूँ। हमें उत्तम लोकों की प्राप्ति, राजपद, स्वर्ग और मोक्षादि की जरा भी इच्छा नहीं है। यह कहते–कहते वे गाने लगते हैं –

''काम्योपासनयार्थयन्त्यनुदिनं किंचित फलं स्वेप्सितं
केचित् स्वर्गमथापवर्गमपरे योगादियज्ञादिभिः।

अस्माकं यदुनन्दनाङ्घ्रियुगलध्यानावधानार्थिना
किं लोकेन दमेन किं नृपतिना स्वर्गापवर्गैश्च किम।।''

और यह गाते–गाते वे बेसुध हो वही लुढ़क जाते हैं। यह सब कुछ स्वामी प्रकाशानंद के सामने घटित होता है। अब प्रकाशानंद के भीतर खलबली मचती है। उनको यह एहसास होता है कि उनसे कोई कह रहा है – ''अरे मूर्ख ! तेरे अज्ञानांधकार को दूर करने हेतु स्वयं हरि संन्यासी वेश में तेरे सामने उपस्थित हैं। उनके चरणों में शरणागत हो जा।''[11] लेकिन बौद्धिक जड़ता जल्दी जाती नहीं है। प्रकाशानंद की भी नहीं गई। शास्त्रार्थोपरांत जब प्रकाशानंद लौटे तो वे अशांत हो गये। चैतन्य महाप्रभु की एक–एक बात उन्हें यथार्थ लगी। अपना शास्त्र ज्ञान उनको धिक्कारने लगा। उद्विग्नावस्था में वे विक्षिप्त होकर उल्टे पाँव गिरते–पड़ते चैतन्य महाप्रभु की शरण में आये और उनके पैरों पर गिरकर त्राता ! त्राहिमाम ! त्राहिमाम ! कहने लगे। वे चैतन्य महाप्रभु के चरणों पर अपना माथा पटकने लगे। प्रभु ने उन्हें बाहों में बाँधते हुए संभाला। अब जाकर प्रकाशानंद ने अपने उद्धार के लिए चैतन्य महाप्रभु से कर्तव्याकर्तव्य का मार्ग पूछा।

चैतन्य महाप्रभु ने कहा ''भगवन ! ×××फिर भी लोक शिक्षण के निमित्त आप मुझसे पूछ रहे हैं, तो मैं आपसे कहता हूँ। मानव जीवन का परम पुरुषार्थ भगवान के प्रेम को पाना है। सभी साधनों का अंतिम फल भगवान के चरणों में अटूट प्रेम है।''[12]

महाप्रभु से उपदेशित होकर और अपना नया नाम परमबोधानन्द प्राप्त कर स्वामी प्रकाशानन्द सरस्वती जी चैतन्य महाप्रभु के चरणों की धूलि अपने माथे लगाकर अपना मठ, शिष्य, सम्पत्ति को त्यागकर श्रीकृष्ण–श्रीकृष्ण रटते हुए वृन्दावनधाम की ओर चल पड़े। ऐसा प्रभाव था चैतन्य महाप्रभु का। ऐसा प्रभाव था प्रेम का।

संदर्भ :–

1 अली सरदार जाफरी, कबीर बानी, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., वर्ष 2010. पृ. सं. 31
2 डॉ. तारकेश्वर उपाध्याय, प्रेमावतार, सारस्वत प्रकाशन मुजफ्फरपुर, वर्ष 2017, पृ. सं. 306
3 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., वर्ष 1991, पृ. सं. 118
4 डॉ. तारकेश्वर उपाध्याय, प्रेमावतार, सारस्वत प्रकाशन मुजफ्फरपुर, वर्ष 2017, पृ. सं. 307
5 वही, पृ. सं. 307
6 वही, पृ. सं. 306
7 वही, पृ. सं. 303
8 वही, पृ. सं. 303
9 वही, पृ. सं. 305–306
10 वही, पृ. सं.. 307
11 वही, पृ. सं. 308
12 वही, पृ. सं. 312